

प्रसिद्ध पत्रिका ईपीडब्ल्यू में आया यह संपादकीय लेख लोकतांत्रिक प्रक्रिया से बनाई गई पाठ्यपुस्तकों पर संसद में हुए हमले की तीखी आलोचना करता है। लेख सवाल करता है कि अंबेडकर, फुले, पेरियार और उत्पीड़ितों के अगुवाओं को पाठ्यपुस्तकों में स्थान दिलाने वाली इन किताबों पर हमला क्यों हुआ? यह लेख इस हमले को संस्थानों की स्वायत्तता पर हमला मानता है।

अंबेडकर कार्टून विवाद

इकनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली से संपादकीय

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् की किताबों पर हमले से स्कूली बच्चों के लिए लोकतांत्रिक शिक्षणशास्त्र को मटियामेट कर देने के खतरे की आहट सुनाई पड़ती है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् द्वारा प्रकाशित राजनीति विज्ञान की कक्षा 11 की किताब पर अचानक किए गए प्रचंड हमले ने ज्यादातर व्यक्तियों को भौचक्का कर दिया है। इस किताब पर आरोप यह लगाया गया कि इसमें डॉ. भीमराव अंबेडकर के खिलाफ अपमानजनक कार्टून दिया गया है। 11 मई को जब संसद में यह मुद्दा उठाया गया तब यह दलील दी गई कि शंकर द्वारा 1949 में बनाया यह कार्टून, जिसे 2006 में प्रकाशित 'भारत का संविधान : सिद्धांत और व्यवहार' में शामिल किया गया, अंबेडकर की बेइज्जती करता है और दलितों को नीचा दिखाता है और इसलिए इसे पाठ्यपुस्तक से बाहर कर दिया जाना चाहिए। हालांकि संसद में दलितों के अगुवा नेता इससे ही संतुष्ट नहीं थे; बहुजन समाज पार्टी की अगुवा मायावती ने उन लेखकों और विशेषज्ञों के खिलाफ फौजदारी की मुकदमा चलाए जाने की मांग की जिन्होंने इस कार्टून को किताब में शामिल किया, जबकि लोक जनशक्ति पार्टी के अगुवा रामविलास पासवान ने सरकार से राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् को भंग करने की मांग की। शुरुआत से ही यह शीशे की तरह साफ था कि इस कार्टून का इस्तेमाल शिखंडी की तरह राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् की पाठ्यपुस्तकों की आलीशान इमारत का विनाश करने के लिए किया जा रहा है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् की पाठ्यपुस्तकें, खास तौर पर सामाजिक विज्ञान की, कुछ समय से संघर्ष का मैदान बनी हुई थीं। इनमें से एक

तो वे पाठ्यपुस्तकों थीं जिनका इस्तेमाल अस्सी व नब्बे के दशक में किया गया और जिन पर हिंदुत्ववादी ताकतों ने हमला किया था और जब राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) सत्ता में आया, तब उस वक्त के मानव संसाधन विकास मंत्री मुरली मनोहर जोशी ने पाठ्यपुस्तकों के नए सैट की शुरुआत की थी जिसमें समाज व इतिहास के हिंदुत्ववादी नजरिए को महिमामंडित किया गया था।

राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की पराजय के बाद इस संदर्भ में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् ने एक नए किस्म की पाठ्यपुस्तकों पर काम करना तय किया जो कि राजनैतिक प्रचार से ऊपर उठ सके और स्कूली शिक्षण की प्रकृति को लोकतांत्रिक बना सके। बड़े पैमाने पर परामर्श/बातचीत का दौर चलाया गया, जिसमें शिक्षकों, अकादमिकों, नौकरशाहों, जनता के चुने हुए नुमाइंदों और स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे कुछ गैर-सरकारी संस्थानों के साथ मिलकर इस बात पर एक सहमति बनाने की शुरुआत की गई कि हमारी पाठ्यपुस्तकें कैसी होनी चाहिए। इस पूरी प्रक्रिया से राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 (एनसीएफ 2005) बनाई गई। उस एनसीएफ 2005 की बुनियाद पर ही, पुराने तौर-तरीकों से हटकर, जिसमें एक ही व्यक्ति पूरी पाठ्यपुस्तक लिख देता था, हरेक पाठ्यपुस्तक के लिए लेखकों का एक दल बनाया गया ताकि उसमें ज्यादा व्यापक नजरियों व विचारों का समावेश हो सके। इसके बाद इन पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा वरिष्ठ अकादमिकों की समिति द्वारा की गई, जिसके सदस्यों के चयन में नजरियों और सामाजिक पृष्ठभूमि की व्यापकता का ख्याल रखा गया था।

दुनिया में किसी दूसरी जगह पर, स्कूली पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की ऐसी सघन लोकतांत्रिक प्रक्रिया को तलाश पाना बहुत ही मुश्किल है। यह लोकतांत्रिक भावना लिखित सामग्री में इस कदर रची बसी है कि इसमें कक्षा 9 से 12 तक के किशोरियों/किशोरों के लिए उपदेशों व बंजर जानकारियां देने के बजाय, अलग-अलग नजरियों, आपसी टकराहट वाले विचारों और अलग-अलग तरह की व्याख्याओं के जरिए ध्यान खींचा गया है और उन्हें लगातार खुद-ब-खुद सोचने के लिए मजबूर किया गया है। नवोदित नागरिकों में सोचने के एक तरीके के तौर पर समालोचना/समीक्षा को धीरे-धीरे मन में बिठाकर, इन पाठ्यपुस्तकों की एक काबिले तारीफ कामयाबी हासिल की है, जिसमें हाशिए पर जी रहे समुदायों और वंचितों/उत्पीड़ितों के नजरियों व इतिहासों को भी जगह मिली है।

यह दलील नहीं दी जा रही है कि इन पाठ्यपुस्तकों के किन्हीं; खास हिस्सों में तथ्यों या निर्णयों की कोई गलती है। एतराजों और सुधारों को भी उस परामर्शकारी निर्णय प्रक्रिया से गुजरना चाहिए। एक मांग के साथ खोपड़ी पर बंदूक की नाल रख देना, भले ही वह उत्पीड़ितों और हाशिए पर जी रहे समुदायों के नाम पर क्यों न हो, पाठ्यपुस्तकों के विषयवस्तु को तय करने का कोई तरीका नहीं है। सरकार के द्वारा पूरी पाठ्यपुस्तक को वापस ले लेने की घोषणा कर देने के बाद, इन पाठ्यपुस्तकों के एक सलाहकार द्वारा इस्तीफा सौंप दिए जाने के बाद उन पर हमला किए जाने से यह जाहिर होता है कि पाठ्यपुस्तक को वापस लेने की मांग करने वाले दलित नेता और संगठन ऐसी किसी बातचीत/संवाद में कोई रुचि नहीं रखते बल्कि वे इस कार्टून का इस्तेमाल 'आहत भावनाओं' के हथियार का इस्तेमाल करते हुए अपना राजनैतिक हिसाब-किताब निपटाने में करना चाहते हैं।

दुनिया में किसी दूसरी जगह पर, स्कूली पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की ऐसी सघन लोकतांत्रिक प्रक्रिया को तलाश पाना बहुत ही मुश्किल है। यह लोकतांत्रिक भावना लिखित सामग्री में इस कदर रची बसी है कि इसमें कक्षा 9 से 12 तक के किशोरियों/किशोरों के लिए उपदेशों व बंजर जानकारियां देने के बजाय, अलग-अलग नजरियों, आपसी टकराहट वाले विचारों और अलग-अलग तरह की व्याख्याओं के जरिए ध्यान खींचा गया है और उन्हें लगातार खुद-ब-खुद सोचने के लिए मजबूर किया गया है।

आधुनिक भारत में दलित राजनीति मौजूदा सामाजिक व्यवस्था की प्रचंड आलोचना से पैदा हुई थी। उसने गैर-बराबरी, सीढ़ीनुमाक्रम और भेदभाव की पुरानी समझ की चूलें हिलाकर रख दी थीं और न्याय की पूरी अवधारणा को नए सिरे से परिभाषित किया था। यह बहुत ही अचरज में डालने वाली बात है कि आज की राजनीति आहत भावनाओं की उन कुंजियों का इस्तेमाल कर रही है जो कि तर्कसंगत आलोचना के सभी दरवाजों के तालों को कस के बंद कर देती है और हमेशा से ही उग्र राष्ट्रवादी दांगे बाजू वालों यानी दक्षिणपंथियों का पसंदीदा हथियार रहा है।

दूसरे चिंताजनक सवाल कुछ इस तरह से हैं। भारत में इस्तेमाल की गई दूसरी इसी तरह की पाठ्यपुस्तकों की तुलना में इन पाठ्यपुस्तकों में अंबेडकर, फुले, पेरियार और उत्पीड़ितों के दूसरे अगुवाओं पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया गया है, तो इन्हें ही हमले के लिए क्यों चुना गया? लोकतांत्रिक सेकुलर यानी पंथनिरपेक्ष भारत को बनाने में अंबेडकर का दर्जा नेहरू और गांधी के बराबर था, यह बात छात्राओं/छात्रों को बताने वाली ऐसी पाठ्यपुस्तकों को वापस लेने या उसमें सुधार करने से किसको फायदा होगा? इनमें से किसी भी सवाल का कोई आसान-सा जवाब नहीं नजर आता है, सिर्फ चिंताजनक पूर्वानुमान लगाए जा सकते हैं।

यहां पर इस बात को भी दर्ज किया जाना जरूरी है कि स्कूली पाठ्यपुस्तकों का मामला अभिव्यक्ति की आजादी के बारे में नहीं है और राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् की पाठ्यपुस्तकों का बचाव करना अभिव्यक्ति की आजादी का बचाव करना नहीं है। इसके बजाय, यह संस्थानों की स्वायत्तता और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं की अखंडता/समग्रता के बारे में है, जिनके जरिए इन पाठ्यपुस्तकों को बनाया गया था। अगर इस कार्टून और किसी दूसरी सामग्री के बारे में कोई समस्या थी, तो शिक्षक व छात्राओं/छात्रों द्वारा इसे उठाया जाना चाहिए था। पिछले छह सालों से इन किताबों का इस्तेमाल किया जा रहा है और इस तरह के किसी एतराज का कोई उदाहरण सामने नहीं आया है। संसद इस काबिल नहीं है कि वह पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु तय करे। यह काम राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् का है और संसद अपनी ताकत की हदों का उल्लंघन कर रही है; अगर वह इन जरा-जरा सी बातों में दखलंदाजी करना शुरू कर दे कि किसी पाठ्यपुस्तकों में किस पन्ने पर कितने शब्द या कितनी तस्वीरें होनी चाहिए! हमारे गणतंत्र के सर्वोच्च संस्थानों पर संविधान द्वारा लगाई गई सीमाओं/हदों का इस तरह का बारंबार उल्लंघन चाहे वह संसद हो, न्यायपालिका हो या कार्यपालिका हो हमारे संविधान निर्माताओं की असली बेइज्जती है और हमारे लोकतंत्र के लिए गंभीर खतरा है। ♦

भारत में इस्तेमाल की गई दूसरी इसी तरह की पाठ्यपुस्तकों की तुलना में इन पाठ्यपुस्तकों में अंबेडकर, फुले, पेरियार और उत्पीड़ितों के दूसरे अगुवाओं पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया गया है, तो इन्हें ही हमले के लिए क्यों चुना गया? लोकतांत्रिक सेकुलर यानी पंथनिरपेक्ष भारत को बनाने में अंबेडकर का दर्जा नेहरू और गांधी के बराबर था, यह बात छात्राओं/छात्रों को बताने वाली ऐसी पाठ्यपुस्तकों को वापस लेने या उसमें सुधार करने से किसको फायदा होगा?

भाषान्तर : रवि कांत